युक्त्यनुशासन

अनुक्रमणिका

001) मंगलाचरण
002) गुणों के समुद्र की स्तुति असंभव
003) धृष्टतापूर्वक फिर भी आपकी स्तुति करता हूँ
004) आप ही शुद्ध, शक्तिमान, अनुपम एव शातं हैं
005) जिनशासन के अपवाद का हेतु
006) जिनदेव का शासन
008) अन्य एकांत मतों में बंध, मोक्ष आदि घटित नहीं होते हैं --
009) एकान्त मतों की सिद्धि स्वभाव हेतु से संभव नहीं है --
010) अवक्तव्य एकान्त में दोष
011) क्षणिकैकान्त पक्ष में दोष
012) निरन्वय विनाश मानने में दोष
013) क्षणिकैकान्तवाद में हेतु घटित नहीं होता
014) पदार्थों के आकस्मिक विनाश मानने में दोष
015) उपचार से भी क्षणिक पक्ष में दोष
016) क्षणिकैकान्त से लोक-व्यवहार का लोप
017) क्षणिकैकान्त में निर्विकल्प-बुद्धिभूत स्वपक्ष ही बाधित
018) विज्ञानाद्वैत में व्यभिचार दोष
019) विज्ञानाद्वैत में स्वसंवेदन भाव नहीं बनता
020) स्वसंवेदनाद्वैत गूंगे की भाषा के समान प्रलाप-मात्र
021) संवेदनाद्वैत में संवृति और परमार्थ दोनों का अभाव
022) संवेदनाद्वैत की सिद्धि किसी प्रमाण से संभव नहीं
023) संवेदनाद्वैत को उपचार मानने में भी दोष
024) संवेदनाद्वैत में विद्या प्राप्ति असंभव
025) शून्यवाद की मान्यता में दोष
026) वस्तु सामान्य-विशेषात्मक
027) शून्यवाद में बन्ध और मोक्ष संभव नहीं
028) उभय एकान्त रूप अवाच्य में दोष
029) अवाच्य एकान्त का निराकरण
030) सर्वथा एकान्त से वस्तु की सिद्धि नहीं होती
031) असत्य में भेद विशेषण की अपेक्षा, एकान्तिक नहीं
032) बौद्ध मत में चतुःकोटि की मान्यता का खण्डन
033) बौद्ध मतानुसार मान्य निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष का निरसन
034) शून्यैकान्तवाद में शुभाशुभ कार्य एवं कर्ता आदि घटित नहीं
035) चार्वाक मत की मान्यतायें भोले प्राणियों को ठगने वाली
036) भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति की मान्यता का निरसन-
037) चार्वाक एवं मीमांसक मत से स्वच्छन्द वृत्ति की पुष्टि
038) मीमांसक द्वारा मान्य हिंसादि से स्वर्ग की प्राप्ति मिथ्या
039) प्रचलित अन्य मिथ्या मान्यतायें युक्तिपूर्ण नहीं
040) विशेष सामान्यनिष्ठ है अतः वस्तु सामान्य-विशेषात्मक
041) 'एवकार' एकान्तिक पक्ष होने से वस्तु का अभाव
042) 'एवकार' के न कहने पर वस्तु के वस्तुत्व की हानि
043) 'स्यात्' शब्द से ही वस्तु के स्वरूप का निश्चय
044) बिना कहे भी 'स्यात्' शब्द का ग्रहण करना चाहिए
045) सप्तभंगी का निरूपण
046) 'स्यात्' के प्रयोग से ही अनेकान्तात्मक वस्तु की सिद्धि
047) स्याद्वाद में ही अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व का सम्यक् निरूपण संभव

048) वीर शासन की 'युक्त्यनुशासन' ही सार्थक संज्ञा
049) एकानेक रूप वस्तु की सिद्धि
050) सापेक्ष नयों से वस्तु तत्त्व की सिद्धि
051) अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्व का निश्चय ही सम्यग्दर्शन
052) बन्ध्-मोक्ष की समीचीन सिद्धि अनेकान्त मत से ही संभव
053) सामान्य-विशेषात्मक वस्तु तत्त्व की सिद्धि
054) सामान्य मात्र वस्तु की सिद्धि संभव नहीं
055) अवस्तुभूत सामान्य अप्रमेय होने से वस्तु तत्त्व की सिद्धि नहीं
056) अन्य दर्शनों में मान्य सामान्य-विशेष के स्वरूप से वस्तु स्वरूप की सिद्धि नहीं
057) निःस्वभावभूत संवृतिरूप साधन से संवृतिरूप साध्य की सिद्धि की युक्ति वस्तु स्वरूप के निर्धरण में असमर्थ
058) संवेदनाद्वैत स्वपक्ष का घातक
059) सर्वशून्यतारूप अभावैकान्त से वस्तु स्वरूप की सिद्धि संभव नहीं
060) वाक्य विधि-प्रतिषेध दोनों का विधायक है
061) स्याद्वाद शासन सभी की उन्नति का साधक-रूप 'सर्वोदय' तीर्थ
062) हे वीर जिन! आपके शासन में श्रद्धान करने वाला अभद्र भी समन्तभद्र हो जाता है
063) राग-द्वेष से रहित हिताभिलाषियों के हित के उपायभूत यह आपके गुणों का स्तवन किया है
064) हे महावीर स्वामी! आप ही स्तुति के योग्य

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!
आचार्य समंतभद्र-देव-विरचित
श्री
युक्त्यनुशासन
मूल संस्कृत सूत्र
!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीयुक्त्यनुशासन नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तार: श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार: श्रीगणधरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्रीसमंतभद्राचार्यदेव विरचितं, श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं
त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वम् ।
निनीष्व: स्मो वयमद्य वीरं
विशीर्ण-दोषाऽऽशय-पाश-बंधनम् ॥1॥
अन्वयार्थ : [विशीर्णदोषाऽऽशय-पाश-बंधनम्] आप दोषों और दोषाऽऽशयों के पाश-बन्धन (बेड़ियों) से विमुक्त हुए हैं, [वर्द्धमानं] आप निश्चित रूप से ऋद्धमान (प्रवृद्धप्रमाण, वृद्धिंगत) हैं, [महत्या कीर्त्या] और आप महती कीर्ति से [भुवि वर्द्धमानं] भूमण्डल पर वर्द्धमान हैं । [अद्य] अब [वयं] हम, [त्वां वीरं] हे वीर जिन! आपको [स्तुतिगोचरत्वम्] स्तुतिगोचर मानकर अपनी स्तुति का विषय बनाने के [निनीषवः स्मः] अभिलाषी हुए हैं ।

गुणों के समुद्र की स्तुति असंभव

याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाऽऽख्या
लोके स्तुतिर्भूरि गुणोदधेस्ते ।
अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवंतो
वक्तुं जिन ! त्वां किमिव स्तुयाम ॥2॥
अन्वयार्थ : [याथात्म्यं] यथार्थता का [उल्लंघ्य] उल्लंघन करके, [गुणोदयाऽऽख्या] गुणों के उत्कर्ष की जो कथनी है, उसे [लोके] लोक में [स्तुतिः] 'स्तुति' कहा जाता है । परन्तु [जिन] हे वीर जिन! [ते] आप [भूरिगुणोदधेः] अनन्त गुणों के समुद्र हैं और [अणिष्ठं अंशं अपि]

उस गुणसमुद्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश का भी हम [वक्तुं] कथन करने के लिए [अशक्नुवन्तः] समर्थ नहीं हैं, तब हम (छद्मस्थ जन) [किमिव] किस तरह [त्वां] आपके [स्तुयाम] स्तोता (स्तुति करने वाला) बनें?

धृष्टतापूर्वक फिर भी आपकी स्तुति करता हूँ

तथाऽपि वैय्मात्यमुपेप्य भक्त्या
स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः ।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति
किंनोत्सहंते पुरुषा: क्रियाभि: ॥3॥

अन्वयार्थ : [तथापि] फिर भी मैं [भक्त्या] भक्ति के वश [वैयात्यं] धृष्टता को [उपेत्य] धरण करके [शक्त्यनुरूपवाक्यः] शक्ति के अनुरूप वाक्यों को लिये हुए [ते] आपका [स्तोता अस्मि] स्तोता बना हूँ (आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त हुआ हूँ) । [पुरुषाः] पुरुषार्थीजन [इष्टे प्रमेये अपि] इष्ट साध्य के होने पर [यथास्वशक्ति] अपनी शक्ति के अनुसार जैसे भी [क्रियाभिः] अपने प्रयत्नों के द्वारा [किं न उत्सहंते] क्या उत्साहित एवं प्रवृत्त नहीं होते हैं ?

आप ही शुद्ध, शक्तिमान, अनुपम एव शातं हैं

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदस्य काष्ठां
तुला-व्यतीतां जिन ! शांतिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्म-पथस्य नेता
महानिनीयत् प्रतिवक्तुमीशा: ॥4॥

अन्वयार्थ : [जिन!] हे (वीर) जिन! [त्वं] आप [शुद्धिशक्त्योः] शुद्धि और शक्ति के [उदयस्य काष्ठां] उदय की उस पराकाष्ठा (चरमसीमा) को [अवापिथ] प्राप्त हुए हैं [तुलाव्यतीतां] जो उपमा रहित है तथा [शान्तिरूपाम्] शान्ति-सुख स्वरूप है । [ब्रह्मपथस्य नेता] आप ब्रह्मपथ (मोक्षमार्ग) के नेता हैं, [महान्] महान् हैं और [इति] इस प्रकार [इयत्] इतना ही [प्रतिवक्तुं] आपके प्रति कहने के लिए [ईशाः] हम समर्थ हैं।

जिनशासन के अपवाद का हेतु

काल: कलिर्वा कलुषाऽऽशयो वा
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्व-लक्ष्मी-
प्रभुत्व-शक्तेरपवाद-हेतुः ॥5॥

अन्वयार्थ : [त्वच्छासनैकाधिपतित्व-लक्ष्मी-प्रभुत्व-शक्तेः] आपके शासन में एकाधिपतित्व रूप लक्ष्मी (वैभव) की प्रभुता की जो शक्ति है उसके [अपवादहेतुः] अपवाद का कारण [कलिः कालः वा] या तो कलिकाल है [वा] या (दूसरा) [श्रोतुः] श्रोता का [कलुषाऽऽशयः] कलुषित आशय है [वा] या (तीसरा) [प्रवक्तुः] प्रवक्ता का [वचनाऽनयः] नय-निरपेक्ष वचन व्यवहार है ।

जिनदेव का शासन

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं
नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलै: प्रवादै-
र्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥6॥

अन्वयार्थ : [जिन] हे (वीर) जिन! [त्वदीयं मतम्] आपका मत (अनेकान्तात्मक शासन) [दया-दम-त्याग-समाधि्-निष्ठम्] दया (अहिंसा), दम (इन्द्रियदमन, संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन), समाधि् (प्रशस्त ध्यान) से निष्ठ (पूर्ण) है। [नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम्] नय और

प्रमाण से सम्यक् वस्तुतत्त्व (पदार्थों) को बिल्कुल स्पष्ट (सुनिश्चित) करने वाला है और [अन्यैः अखिलैः प्रवादैः] (अनेकान्तवाद से भिन्न) अन्य सभी प्रवादों से [अधृष्यम्] अबाधित (जीता नहीं जा सकने वाला) होने से [अद्वितीयम्] अद्वितीय है।

अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वं
तव स्वतंत्राऽंयतरख-पुष्पम् ।
अवृत्तिमत्त्वात्समवाय-वृत्ते:
संसर्गहाने: सकलाऽर्थ-हानि: ॥7॥

अन्वयार्थ : हे वीर भगवन्! [तव] आपका [अर्थतत्त्वम्] अर्थतत्त्व (जीवादि-वस्तुतत्त्व) [अभेद-भेदात्मकम्] अभेद-भेदात्मक है। (अभेदात्मकतत्त्व और भेदात्मकतत्त्व) [स्वतन्त्रान्यतरत्] दोनों को स्वतन्त्र (पारस्परिक तन्त्राता से रहित, सर्वथा निरपेक्ष) स्वीकार करने पर [खपुष्पम्] प्रत्येक आकाश-पुष्प के समान (अवस्तु) हो जाता है। उनमें [समवायवृत्तेः] समवायवृत्ति के [अवृत्तिमत्त्वात्] अवृत्तिमती होने से (समवाय नाम के स्वतन्त्र पदार्थ का दूसरे पदार्थों के साथ स्वयं का कोई सम्बन्ध न बन सकने के कारण) [संसर्गहानेः] संसर्ग (एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध) की हानि होती है और संसर्ग की हानि होने से [सकलार्थ-हानिः] सम्पूर्ण पदार्थों की हानि ठहरती है ।

अन्य एकांत मतों में बंध, मोक्ष आदि घटित नहीं होते हैं --

भावेषु नित्येषु विकारहाने:
न कारकव्यापृति-कार्य-युक्ति: ।
न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्ष:
समन्तदोषं मतमन्यदीयम् ॥8॥

अन्वयार्थ : [नित्येषु भावेषु] (सत्तात्मक) पदार्थों को नित्य मानने पर उनमें [विकारहाने:] विकार की हानि होती है, [न कारक-व्यापृत-कार्ययुक्ति:] (विकार की हानि होने से) कारकों के व्यापार नहीं बनता, कारक-व्यापार के अभाव में कार्य नहीं बनता और कार्य के अभाव में युक्ति घटित नहीं हो सकती। [बन्धभोगौ न] (युक्ति के अभाव में) बन्ध तथा भोग दोनों नहीं बन सकते हैं [तद्विमोक्ष: न च्व] और न उनका विमोक्ष ही बन सकता है । अत: (हे वीर जिन!) [अन्यदीयं मतं] आपके मत से भिन्न अन्यों का मत (शासन) [समन्तदोषं] सब प्रकार से दोषरूप है ।

एकान्त मतों की सिद्धि स्वभाव हेतु से संभव नहीं है --

अहेतुकत्वं-प्रथित: स्वभाव-
स्तस्मिन् क्रियाकारकविभ्रम: स्यात् ।
आबालसिद्धेर्विविधार्थसिद्धि-
र्वादान्तरं किं तदसूयतां ते ॥9॥

अन्वयार्थ : (यदि नित्य पदार्थों में विकारी होने का) [स्वभाव:] स्वभाव [अहेतुकत्वं-प्रथित:] बिना किसी हेतु के ही प्रसिद्ध है (तो ऐसी दशा में) [तस्मिन्] उसमें [क्रियाकारक-विभ्रम:] क्रिया और कारक का विभ्रम [स्थात्] ठहरता है । यदि [आबालसिद्धे:] आबाल-सिद्धि (बालगोपाल में सिद्धि) रूप हेतु से [विविधार्थ-सिद्धि:] विविधार्थ (अनेक अर्थों) की सिद्धि के रूप में स्वभाव प्रथित (प्रसिद्ध) है तो (हे वीर भगवन्!) [ते] आपके [असूयतां] विद्वेषियों के लिये [किं तत् वादान्तरं] क्या यह वादान्तर (दूसरा वाद) नहीं होगा?

अवक्तव्य एकान्त में दोष

येषामवक्तव्यमिहात्मतत्त्व
देहादनन्यत्वपृथसम्यक्त्वकक्लृप्ते: ।
तेषां ज्ञतत्त्वेऽनवधार्यतत्त्वे
का बंधमोक्षस्थितिरप्रमेये ॥10॥

अन्वयार्थ : [इह] इस लोक में [आत्मतत्त्वं] आत्मतत्त्व (नित्य आत्मा) की [देहात्] शरीर से [अनन्यत्व-पृथक्त्वक्लृप्तेः] अभिन्नत्व और भिन्नत्व की इस कल्पना (अभिन्नत्व और भिन्नत्व दोनों में से किसी एक के भी निर्दोष सिद्ध न हो सकने) के कारण [येषाम्] जिन्होंने (आत्मतत्त्व को) [अवक्तव्यम्] अवक्तव्य (वचन के अगोचर अथवा अनिर्वचनीय) माना है, [तेषाम्] उनके मत में [ज्ञतत्त्वे] आत्मतत्त्व के [अनवधर्य-तत्त्वे] स्वरूप अवधरित नहीं होने पर [अप्रमेये] प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होने पर [का बंध्-मोक्ष-स्थितिः] बन्ध और मोक्ष की कौन सी स्थिति बन सकती है ?

क्षणिकैकान्त पक्ष में दोष

हेतुर्न दृष्टोऽत्र न चाऽप्यदृष्टो
योऽयं प्रवाद: क्षणिकात्मवाद: ।
न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये
संतानभिंने न हि वासनाऽस्ति ॥11॥

अन्वयार्थ : 'प्रथम क्षण में [ध्वस्तम्] नष्ट हुआ चित्त-आत्मा [अन्यत्र] किसी भी तरह [द्वितीये भवे] दूसरे भव (क्षण) में [न] विद्यमान नहीं रहता', [योऽयं] यह जो [क्षणिकाऽऽत्मवादः] क्षणिकात्मवाद है, वह [प्रवादः] प्रलाप-मात्र है, क्योंकि [अत्र] यहाँ [न दृष्टः] न प्रत्यक्ष [न च अपि अदृष्टः] और न अनुमान [हेतुः] हेतु बनता है । (चित्त में) [सन्तानभिन्ने] सन्तान-भिन्नता में [न हि वासना अस्ति] वासना का अस्तित्व नहीं बन सकता ।

निरन्वय विनाश मानने में दोष

तथा न तत्कारण-कार्य-भावो
निरवन्या: केन समानरूपा: ।
असत्खपुष्पं न हि हेत्वपेक्षं
दृष्टं न सिद्धयत्युभयोरसिद्धम् ॥12॥

अन्वयार्थ : (जिस प्रकार सन्तानभिन्न चित्त में वासना नहीं बन सकती) [तथा] उसी प्रकार [तत्कारणकार्यभावः] (क्षणिकात्मवाद अर्थात् सन्तानभिन्न चित्तों में) कारण-कार्य भाव भी [न] नहीं बनता है । [निरन्वयाः] सर्वथा विनश्वर (सन्तान-परम्परा से रहित) को, [केन समानरूपाः] किसके साथ समानरूप कहा जाये? (जो कार्यचित्त असत् है अर्थात् उत्पाद के पूर्व जिसका सर्वथा अभाव है, वह सर्वथा नष्ट कारण-चित्त के समान कैसे हो सकता है) [असत् खपुष्पम्] असत् को आकाश-पुष्प के समान [न हि हेत्वपेक्षम्] हेतु की अपेक्षा से न ही [दृष्टम् न सिद्धयति] देखा जाता है और न वह सिद्ध होता है । (क्योंकि) [उभयोः असिद्धम्] (कोई भी असत् पदार्थ हेत्वपेक्ष के रूप में) वादी-प्रतिवादी दोनों के द्वारा असिद्ध (अमान्य) है ।

क्षणिकैकान्तवाद में हेतु घटित नहीं होता

नैवाऽस्ति हेतु: क्षणिकात्मवादे
न सन्नसन्वा विभवादकस्मात् ।
नाशोदयैकक्षणता च दृष्टा संतान-
भिन्न-क्षणयोरभावात् ॥13॥

अन्वयार्थ : [क्षणिकात्मवादे] क्षणिकात्मवाद में [हेतुः नैव अस्ति] हेतु बनता ही नहीं है। (क्योंकि हेतु को यदि सत्रूप माना जाये तो) [विभवात्] इससे विभव का प्रसंग आने से और (यदि असत्रूप माना जाये तो) [अकस्मात्] अकस्मात् (बिना किसी कारण के ही) कार्योत्पत्ति का प्रसंग आने से, [न सत्] न सत् [वा] और [न असत्] न असत् हेतु बनता है। तथा [सन्तान-भिन्न-क्षणयोः] सन्तान के भिन्न क्षणों में [नाशोदयैकक्षणता च अभावात् दृष्टा] नाश और उदय की एक-क्षणता का अभाव देखा जाता है।

पदार्थों के आकस्मिक विनाश मानने में दोष

कृत-प्रणाशाऽकृत कर्मभोगौ
स्यातामसञ्चेतितकर्म च स्यात् ।
आकस्मिकेऽर्थे प्रलय स्वभावे
मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥14॥

अन्वयार्थ : [अर्थे प्रलयस्वभावे] यदि पदार्थ को प्रलय-स्वभावरूप [आकस्मिके] आकस्मिक माना जाये तो [कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोगौ] इससे कृत-कर्म के भोग के विनाश का और अकृत-कर्म (नहीं किए कर्म) के फल को भोगने का [स्याताम्] प्रसंग आयेगा । [असञ्चेतितकर्म च] साथ ही, कर्म भी अभुक्त [स्यात्] ठहरेगा । (इसी तरह पदार्थ के प्रलय-स्वभावरूप क्षणिक होने पर) [मार्गः न युक्तः] कोई मार्ग भी युक्त नहीं रहेगा [वधकः च न स्यात्] और कोई किसी का वध करने वाला भी नहीं रहता।

उपचार से भी क्षणिक पक्ष में दोष

न बंध-मोक्षौ क्षणिकैक-सस्थौ
न संवृति: साऽपि मृषा-स्वभावा ।
मुख्यादृते गौण-विधिर्न दृष्टो
विभ्रांत-दृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥15॥

अन्वयार्थ : (पदार्थों के प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक होने पर) [क्षणिकैकसंस्थौ] क्षणिक एक (चित्त) में संस्थित के [बन्धमोक्षौ न] बन्ध और मोक्ष भी नहीं बनते [मृषास्वभावा] मिथ्या-स्वभावी [न संवृतिः साऽपि] उपचार भी क्षणिक एक-चित्त में बंध्-मोक्ष की व्यवस्था करने में समर्थ नहीं है। और [गौण विधिः] गौण-विधि [मुख्यादृते] मुख्य के बिना [न दृष्टः] देखी नहीं जाती है । [तव] आपकी (स्याद्वादरूपिणी अनेकान्त) [दृष्टितः] दृष्टि से [अन्या] भिन्न (जो दूसरी दृष्टि है) [विभ्रान्तदृष्टिः] वह मिथ्या दृष्टि है ।

क्षणिकैकान्त से लोक-व्यवहार का लोप

प्रतिक्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वा-
न्न मातृघाती स्व-पति: स्व-जाया ।
दत्त-ग्रहो नाऽधिगत-स्मृतिर्न न
क्त्वार्थ-सत्यं न कुलं न जाति: ॥16॥

अन्वयार्थ : [प्रतिक्षणं भंगिषु] क्षण-क्षण में पदार्थों को विनाशवान मानने पर, [तत्पृथक्त्वात्] उनके सर्वथा भिन्न होने के कारण, [न मातृघाती] कोई मातृघाती (माता का घातक) नहीं बनता है, [न स्वपतिः] न कोई किसी का (कुलस्त्री का) स्वपति बनता है, [न स्वजाया] और न कोई किसी की स्वपत्नि ठहरती है । [दत्तग्रहो न] दिये हुए धनादिक का पुनः ग्रहण नहीं बनता, [अधिगतस्मृतिः न] अधिगत (ग्रहण) किये हुए अर्थ की स्मृति भी नहीं बनती । [क्त्वार्थसत्यं न] सत्य है वह भी नहीं बनता। (इसी प्रकार) [कुलम् न] न कोई कुल बनता है, [जातिः न] और न कोई जाति ही बनती है ।

क्षणिकैकान्त में निर्विकल्प-बुद्धिभूत स्वपक्ष ही बाधित

न शास्तृशिष्यादिविधिव्यवस्था,
विकल्पबुद्धिर्वितथाऽखिला चेत् ।
अतत्त्वतत्त्वादिविकल्पमोहे,
निमज्जतां वीतविकल्पधी: का ? ॥17॥

अन्वयार्थ : (चित्तों के प्रतिक्षण भंगुर निरन्वय-विनष्ट होने पर) [शास्तृ-शिष्यादि-विधि-व्यवस्था] शास्ता और शिष्यादि के स्वभाव-स्वरूप की भी कोई व्यवस्था [न] नहीं बनती। [अखिला विकल्पबुद्धिः] 'यह सब विकल्प-बुद्धि है और [चेत् वितथा] यह (विकल्प-बुद्धि) सारी

मिथ्या होती है।' ऐसा कहने वालों (बौद्धों) के यहाँ, जो (स्वयं) [अतत्त्वतत्त्वादि-विकल्प-मोहे] अतत्त्व और तत्त्व आदि के विकल्पों के मोह में [निमज्जतां] डूबे हुए हैं उनके [वीतविकल्पधी:] निर्विकल्प-बुद्धि [का] कैसी?

विज्ञानाद्वैत में व्यभिचार दोष

अनर्थिका साधनसाध्यधीश्चेद्,
विज्ञानमात्रस्य न हेतुसिद्धि: ।
अथार्थवत्त्वं व्यभिचारदोषो,
न योगिगम्यं परवादिसिद्धम् ॥18॥

अन्वयार्थ : [चेत्] यदि [साधन-साध्यधीः] साधन-साध्य की बुद्धि [अनर्थिका] निष्प्रयोजनीय है तो [विज्ञानमात्रस्य] विज्ञानमात्र तत्त्व को सिद्ध करने के लिये जो [हेतुसिद्धिः] हेतु दिया जाता है उसकी सिद्धि [न] नहीं बनती । [अथ] यदि (साधन-साध्य की बुद्धि) [अथार्थवत्त्वं] अर्थवती (अर्थावलम्बन को लिये हुए) है तो इसी से प्रस्तुत हेतु के [व्यभिचारदोषः] व्यभिचार दोष आता है। यदि विज्ञानमात्र तत्त्व को [योगिगम्यम्] योगिगम्य कहा जाये तो [परवादिसिद्धं न] यह बात परवादियों को सिद्ध अथवा उनके द्वारा मान्य नहीं है ।

विज्ञानाद्वैत में स्वसंवेदन भाव नहीं बनता

तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पै-
र्विश्वाऽभिलाखापाऽऽस्पदतामतीतम् ।
न स्वस्य वेद्यं न च तन्निगद्यं
सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्तिबाह्यम् ॥19॥

अन्वयार्थ : जो [तत्त्वम्] (विज्ञानाद्वैत) तत्त्व [सकलैः विकल्पैः] सम्पूर्ण विकल्पों से [विशुद्धम्] शून्य है वह [स्वस्य वेद्यं न] स्वसंवेद्य नहीं हो सकता । (इसी तरह) [विश्वा-अभिलापा-आस्पदताम् अतीतम्] सम्पूर्ण कथन प्रकारों की आश्रयता से रहित (वह विज्ञानाद्वैत तत्त्व) [न च तत् निगद्यम्] कथन के योग्य भी नहीं हो सकता । (अतः हे वीर जिन!) [भवद्-उक्ति-बाह्यम्] आपकी उक्ति (अनेकान्तात्मक स्याद्वाद) से जो बाह्य (सर्वथा एकान्तरूप विज्ञानाद्वैत तत्त्व) [सुषुप्त्यवस्थम्] प्रगाढ़ निद्रा (महा मोह) की अवस्था को प्राप्त है ।

स्वसंवेदनाद्वैत गूंगे की भाषा के समान प्रलाप-मात्र

मूकात्म-संवेद्यवदात्मवेद्यं-
तन्म्लिष्ट-भाषा-प्रतिम-प्रलापम् ।
अनङ्ग-संज्ञं तदवेद्यमन्यै:
स्यात्त्वद्द्विषां वाच्यमवाच्यतत्त्वम् ॥20॥

अन्वयार्थ : जिस प्रकार [मूकात्म-संवेद्यवत्] मूक व्यक्ति का (गूंगे का) स्वसंवेदन [आत्मवेद्यम्] आत्मवेद्य है (स्वयं के द्वारा ही जाना जाता है), उसी तरह विज्ञानाद्वैततत्त्व भी आत्मवेद्य है । [तत्] वह स्व-संवेदन [म्लिष्टभाषा-प्रतिम-प्रलापम्] (गूंगे की) अस्पष्ट भाषा के समान प्रलाप-मात्र है। साथ ही वह [अनङ्ग-संज्ञं] किसी भी अंग-संज्ञा के द्वारा उसका संकेत नहीं किया जा सकता तथा [तत्] वह (स्वसंवेदन) [अन्यैः अवेद्यम्] दूसरों के द्वारा अवेद्य (वेदन योग्य नहीं) है। [स्यात् त्वद्-द्विषाम्] ऐसा आपसे - आपके स्याद्वाद मत से - द्वेष रखने वाले लोगों (स्वसंवेदनाद्वैतवादियों) का जो यह कहना है इससे उनका [अवाच्य तत्त्वम्] सर्वथा अवाच्य (कथन के अयोग्य) तत्त्व [वाच्यम्] वाच्य (कथन के योग्य) हो जाता है !

संवेदनाद्वैत में संवृति और परमार्थ दोनों का अभाव

अशासदञ्जांसि वचांसि शास्ता
शिष्याश्च शिष्टा वचनैर्न ते तै: ।
अहो इदं दुर्गतमं तमोऽन्यत्

त्वयाविना श्रायसमार्य ! किं तत् ॥21॥

अन्वयार्थ : [शास्ता] सुगत (बुद्ध) ने [अञ्जांसि वचांसि] अनवद्य (निर्दोष) वचनों की शिक्षा दी [च तैः वचनैः] और उन वचनों के द्वारा [ते शिष्याः] उनके वे शिष्य [शिष्टा न] शिक्षित नहीं हुए। [अशासत्] (उनका) यह कथन अहो! [इदं तमः अन्यत् दुर्गतमम्] दूसरा दुर्गतम (अलंघनीय) अंधकार है। [आर्य!] हे आर्य! (वीर जिन!) [त्वया विना] आपके बिना [किं तत् श्रायसम्] निःश्रेयस (निर्वाण) कौन सा है?

संवेदनाद्वैत की सिद्धि किसी प्रमाण से संभव नहीं

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र
तल्लिंग-गम्यं न तदर्थ-लिंगम् ।
वाचो न वा तद्विषयेण योग: का तद्गति: ?
कष्टमशृण्वतां ते ॥22॥

अन्वयार्थ : [यत्र] जिस (संवेदनाद्वैतरूप तत्त्व) में [प्रत्यक्षबुद्धिः] प्रत्यक्ष ज्ञान [न क्रमते] प्रवृत्त नहीं होता, [तत् लिङ्गगम्यं] उसे यदि अनुमान-गम्य माना जाये तो [तदर्थ लिङ्गम् न] उसमें अर्थरूप लिङ्ग सम्भव नहीं हो सकता [वा] और [वाचः] (परार्थानुमानरूप) वचन का [तद्विषयेण योगः न] उसके (संवेदनाद्वैतरूप) विषय के साथ योग नहीं बनता है। [तत् का गतिः] उस (संवेदनाद्वैतरूप तत्त्व) की क्या गति है? अतः (हे वीर जिन!) [ते] आपके (स्याद्वाद शासन को) [अश्रृण्वताम्] नहीं सुनने वालों का (संवेदनाद्वैतरूप) दर्शन [कष्टम्] कष्टरूप है ।

संवेदनाद्वैत को उपचार मानने में भी दोष

रागाद्यविद्याऽनल-दीपनं च
विमोक्ष-विद्याऽमृत-शासनं च ।
न भिद्यते संवृति-वादि-वाक्यं
भवत्प्रतीपं परमार्थ शून्यम् ॥23॥

अन्वयार्थ : (यदि संवृति से संवेदनाद्वैत तत्त्व की प्रतिपत्ति मानकर बौद्ध-दर्शन की कष्टरूपता का निषेध किया जाये तो वह भी ठीक नहीं बैठता क्योंकि) [संवृतिवादि वाक्यम्] संवृतिवादियों का वाक्य [रागाद्यविद्याऽनलदीपनं च] रागादि-अविद्यारूप अग्नि को बढ़ाने वाला (अनल का दीपनरूप) है [विमोक्ष-विद्या-अमृत-शासनं च] और विमोक्ष-विद्या अमृत-शासनरूप (वाक्य) - [न भिद्यते] इन दोनों में कोई भेद नहीं है। (क्योंकि, हे वीर जिन!) [भवत्प्रतीपम्] (ये दोनों वाक्य) आपके अनेकान्त-शासन के विपरीत हैं, [परमार्थशून्यम्] (और इसलिये) परमार्थ-शून्य हैं ।

संवेदनाद्वैत में विद्या प्राप्ति असंभव

विद्याप्रसूत्यैकिल शील्यमाना
भवत्यविद्या गुरुणोपदिष्टा ।
अहो त्वदोयोक्त्यनभिज्ञमोहो,
यंजन्मने यत्तदजन्मने तत् ॥24॥

अन्वयार्थ : [गुरुणोपदिष्टा] गुरु के द्वारा उपदिष्ट (कही हुई) [अविद्या] अविद्या भी [किल] निश्चय से [शील्यमाना] भाव्यमान (विशिष्ट भावना को प्राप्त, अभ्यास को प्राप्त) हुई [विद्या-प्रसूत्यै] विद्या की उत्पत्ति के लिए [भवति] समर्थ होती है! [अहो!] आश्चर्य है कि [त्वदीयोक्त्यनभिज्ञ-मोहः] हे वीर जिन! आपकी उक्ति से अनभिज्ञ का (बौद्धों के एक सम्प्रदाय का) यह कैसा मोह (विपरीताभिनिवेश, विपरीत मान्यता) है (जो यह प्रतिपादन करता है कि) वह [यत् जन्मने] जो इस जन्म के लिए कारण था [यत् तत् अजन्मने तत्] ठीक वही मोह जन्म से रहित होने के लिए भी कारण है?

शून्यवाद की मान्यता में दोष

अभावमात्रं परमार्थवृत्ते:

सा संवृति: सर्व विशेषशून्य ।

तस्या विशेषौ किल बंधमोक्षौ

हेत्वामनेति त्वदनाथवाक्यम् ॥25॥

अन्वयार्थ : शून्यवाद में मान्य तत्त्व व्यवस्था (पूर्वपक्ष)-[परमार्थवृत्तेः] परमार्थवृत्ति से (तत्त्व) [अभावमात्राम्] अभावमात्र है। [सा] वह (परमार्थवृत्ति) [संवृतिः] औपचारिक है और (संवृति) [सर्वविशेषशून्या] सर्वविशेषों से शून्य है तथा [तस्याः] उस (अविद्यात्मिका एवं सकलतात्त्विक-विशेष-शून्य संवृति) के भी जो [बन्धमोक्षौ] बन्ध और मोक्ष [विशेषौ] विशेष हैं, वे [किल] निश्चय से [हेत्वात्मना] हेत्वात्मक हैं। [इति] इस प्रकार यह उनका [त्वदनाथवाक्यम्] वाक्य है जिनके आप नाथ नहीं हैं।

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक

व्यतीत-सामान्य-विशेष-भावाद्

विश्वाऽभिलापाऽर्थ-विकल्प-शून्यम् ।

ख पुष्पवत्स्वादसदेव तत्त्वं

प्रबुद्धतत्त्वाद्भवत: परेषाम् ॥26॥

अन्वयार्थ : हे वीर जिन! [प्रबुद्धतत्त्वात् भवतः] अनेकान्तवाद आपसे भिन्न [परेषाम्] दूसरों (एकान्तवादियों) का जो [व्यतीत-सामान्य-विशेष-भावाद्] सर्वथा सामान्य-भाव से रहित, सर्वथा विशेष-भाव से रहित तथा (परस्पर सापेक्षरूप) सामान्य-विशेष-भाव दोनों से रहित, जो [तत्त्वम्] तत्त्व है, वह (प्रकटरूप में शून्यतत्त्व न होते हुए भी) [विश्वाऽभिलापाऽर्थ-विकल्पशून्यम्] सम्पूर्ण अभिलापों (कथनों) तथा अर्थविकल्पों (अर्थ = पदार्थ) से शून्य [खपुष्पवत्] आकाश-पुष्प के समान [असत् एव स्यात्] असत् (अवस्तु) ही है ।

शून्यवाद में बन्ध और मोक्ष संभव नहीं

अतत्स्वभावेऽप्यनयोरुपायाद्-

गतिर्भवेत्तौ वचनीय-गम्यौ ।

संबंधिनौ चेन्न विरोधि दृष्टं

वाच्यं यथार्थं न च दूषणं तत् ॥27॥

अन्वयार्थ : [अतत्स्वभावे अपि] (यदि कोई कहे कि) अतत्-स्वभाव (शून्य-स्वभाव) के होने पर भी (अभावरूप सत्स्वभाव तत्त्व के मानने पर भी) [अनयोः] इन (बन्ध् और मोक्ष) दोनों की [उपायात्] उपाय से [गतिः भवेत्] गति होती है (दोनों जाने जाते हैं), [तौ] दोनों [वचनीयगम्यौ] वचनीय हैं और गम्य हैं, साथ ही [सम्बन्धिनौ] दोनों सम्बन्धी हैं, तो [चेत् न] यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि [विरोधि् दृष्टम्] विरोध देखा जाता है (इस प्रकार सत्स्वभावरूप तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता) । जो [यथार्थं] यथार्थ [वाच्यं] वाच्य होता है [तत्] वह [न च दूषणं] दूषणरूप नहीं होता ।

उभय एकान्त रूप अवाच्य में दोष

उपेयतत्त्वाऽनभिलाप्यताव,

दुपायतत्त्वाऽनभिलाप्यता स्यात् ।

अशेषतत्त्वाऽनभिलाप्यतायां,

द्विषां भवद्युक्त्यभिलाप्यताया: ॥28॥

अन्वयार्थ : (हे वीर जिन!) [भवद् युक्त्यभिलाप्यतायाः] आपकी युक्ति (स्याद्वाद नीति) के वाच्य के [द्विषां] जो द्वेषी हैं, (उनके मत में) [अशेष तत्त्वाऽनभिलाप्यतायां] 'सम्पूर्ण तत्त्व अवाच्य है', [उपेय-तत्त्वाऽनभिलाप्यतावत्] उपेय-तत्त्व की अवाच्यता के समान [उपाय-

तत्त्वाऽनभिलाप्यता स्यात्] उपाय-तत्त्व भी सर्वथा अवाच्य हो जाता है ।

अवाच्य एकान्त का निराकरण

अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावा-
दवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम् ।
स्वरूपतश्चेत्पररूपवाचि
स्व-रूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥29॥

अन्वयार्थ : (सम्पूर्ण तत्त्व सर्वथा अवाच्य है ऐसी एकान्त मान्यता होने पर-) [अवाच्यं एव] 'तत्त्व अवाच्य ही है' [इति] ऐसा कहना [अयथा प्रतिज्ञम्] प्रतिज्ञा के विरुद्ध हो जाता है, क्योंकि [अवाच्यं इति अत्रा] 'अवाच्य' इस पद में ही [च वाच्य भावात्] वाच्य का भाव है। [चेत्] यदि कहा जाये कि [स्वरूपतः] '(तत्त्व) स्वरूप से अवाच्य ही है' तो [स्वरूपवाचीति] 'सर्व वचन स्वरूपवाची है' यह कथन, और यदि कहा जाये कि '(तत्त्व) पररूप से अवाच्य ही है' तो [पररूपवाचि इति] 'सर्व वचन पररूपवाची है', इस प्रकार का कथन भी [वचः विरुद्धम्] प्रतिज्ञा के विरुद्ध ठहरता है ।

सर्वथा एकान्त से वस्तु की सिद्धि नहीं होती

सत्याऽनृतं वाऽप्यनृताऽनृतं
वाऽप्यस्तीह किं वस्त्वतिशायनेन ।
युक्तं प्रतिद्वन्द्वय्नुबंधि-मिश्रं
न वस्तु तादृक् त्वदृते जिनेदृक् ॥30॥

अन्वयार्थ : [सत्याऽनृतं वा अपि] कोई वचन सत्य-असत्य ही है, [अनृताऽनृतं वा अपि] दूसरा कोई वचन अनृताऽनृत असत्य- असत्य ही है और ये क्रमशः [प्रतिद्वन्द्वि-अनुबंधि-मिश्रं] प्रतिद्वन्द्वी से मिश्र और अनुबन्धि से मिश्र हैं। [इह] इस प्रकार [जिन] हे वीर जिन! [त्वद् ऋते] आप (स्याद्वादी) के बिना [वस्तु अतिशायनेन] वस्तु के उत्कृष्ता से प्रवर्तमान (प्रबोध्क, बोध् कराने वाला) [ईदृक्] जो वचन है [किं] क्या [युक्तं अस्ति] वह युक्त है? [न वस्तु तादृक्] क्योंकि स्याद्वाद से शून्य उस प्रकार का वस्तु-स्वरूप वास्तविक नहीं है।

असत्य में भेद विशेषण की अपेक्षा, एकान्तिक नहीं

सहक्रमाद्वा विषयाऽल्प-भूरि-
भेदेऽनृतं भेदि न चाऽऽत्मभेदात् ।
आत्मांतरं स्याद्भिदुरं समं च
स्याच्याऽनृतात्माऽनभिलाप्यता च ॥31॥

अन्वयार्थ : [सहक्रमात् वा] युगपत् और क्रम की अपेक्षा से [विषयाऽल्पभूरिभेदे] विषय (अभिधेय) के अल्प और अधिक (अल्पाऽनल्प) भेद होने पर [अनृतं] असत्य [भेदि] भेद वाला होता है, [न च आत्मभेदात्] आत्मभेद से नहीं। [आत्मान्तरं] जो सत्य आत्मान्तर (आत्मविशेष लक्षण) है वह [भिदुरं समं च स्यात्] भेद स्वभाव और अभेद स्वभाव वाला है, [अनृतात्मा च] इसके अलावा अनृतात्मा (असत्यात्मा) और ('च' शब्द से) उभय स्वभाव को लिये हुए है। [अनभिलाप्यता] अनभिलाप्यता (अवाच्यता) को [स्यात् च] प्राप्त है और (द्वितीय 'च' शब्द के प्रयोग से) किंचित् भेद-अवाच्य, किंचित् अभेद-अवाच्य और किंचित् उभय-अवाच्य (भेद-अभेद-अवाच्य) भी है।

बौद्ध मत में चतुःकोटि की मान्यता का खण्डन

न सच्च नाऽसच्च न दृष्टमेक-
मात्मांतरं सर्व-निषेध-गम्यम् ।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधि-भेदात्

स्वप्नेऽपिनैतत्त्वदृषे: परेषाम् ॥32॥
अन्वयार्थ : [न सत् च] तत्त्व न सर्वथा सत्रूप (भाव) है, [न असत् च] न सर्वथा असत्रूप (अभावरूप) है, क्योंकि [न सर्वनिषेधगम्यम्] परस्पर निरपेक्ष सत्तत्त्व और असत्तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता। इसी तरह (सत्-असत्, एक-अनेक आदि) सर्व धर्मों के निषेध का विषयभूत कोई [एकम्] एक [आत्मान्तरं] आत्मान्तर (परमब्रह्म) तत्त्व भी [न दृष्टं] नहीं देखा जाता। हाँ, [विमिश्रं] सत्वाऽसत्व से विमिश्र परस्पराऽपेक्षरूप तत्त्व जरूर [दृष्टं] देखा जाता है, [तदुपाधिभेदात्] और वह उपाधि् के भेद से है। [त्वद् ऋषेः] आप ऋषिराज से भिन्न [परेषां] जो दूसरे सर्वथा सत् आदि एकान्तों के वादी हैं उनके [एतत्] यह वचन अथवा इस रूप तत्त्व [स्वप्ने अपि] स्वप्न में भी [न] सम्भव नहीं है ।

ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि यह सम्पूर्ण विश्व एक परमब्रह्मस्वरूप ही है। जगत् में जो कुछ भी प्रतिभासित हो रहा है वह सब परमब्रह्म की पर्याय है। सभी वस्तुएँ सत् रूप हैं बस! इस सत् का जो प्रतिभास है वही परमब्रह्म है।

बौद्ध मतानुसार मान्य निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष का निरसन

प्रत्यक्ष-निर्देशवदप्यसिद्धम्-
ऽकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम् ।
विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो
न तावकद्वेषिणि वीर ! सत्यम् ॥33॥
अन्वयार्थ : [प्रत्यक्षनिर्देशवद्] जो प्रत्यक्ष के द्वारा निर्देश को प्राप्त हो, ऐसा तत्त्व [अपि असिद्धं] भी असिद्ध है, क्योंकि जो [अकल्पकं] प्रत्यक्ष निर्विकल्पक (अकल्पक) है वह [ज्ञापयितुं हि अशक्यम्] दूसरों को तत्त्व के बतलाने-दिखलाने में किसी तरह भी समर्थ नहीं होता है। इसके सिवाय [सिद्धेः विना च] प्रत्यक्ष की सिद्धि के बिना [लक्षणार्थः च न] उसका लक्षणार्थ भी नहीं बन सकता है। [वीर] अतः, हे वीर जिन! [तावकद्वेषिणि] आपके अनेकान्तात्मक स्याद्वाद-शासन का जो द्वेषी है उसमें [सत्यम् न] सत्य घटित नहीं होता।

शून्यैकान्तवाद में शुभाशुभ कार्य एवं कर्ता आदि घटित नहीं

कालांतरस्थे क्षणिके ध्रुवे वा-
ऽपृथक्पृथक्त्वाऽवचनीयतायाम् ।
विकारहानेर्न च कर्तृ कार्ये
वृथा श्रमोऽयं जिन ! विद्विषां ते ॥34॥
अन्वयार्थ : [कालान्तरस्थे] पदार्थ के कालान्तर स्थायी होने पर [अपृथक् पृथक्त्वाऽवचनीय-तायाम्] चाहे वह अभिन्न हो, भिन्न हो या अनिवर्चनीय हो, [कर्तृकार्ये च न] कर्ता और कार्य दोनों भी उसी प्रकार नहीं बन सकते जिस प्रकार कि [क्षणिके ध्रुवे वा] पदार्थ के सर्वथा क्षणिक (अनित्य) अथवा ध्रुव (नित्य) होने पर नहीं बनते, क्योंकि तब [विकारहानेः] विकार (परिवर्तन, रूपान्तरण) की हानि (निवृत्ति) होती है। अतः [जिन] हे वीर जिन! [ते] आपके [विद्विषां] द्वेषियों का [अयम्] यह [श्रमः] श्रम [वृथा] व्यर्थ है।

चार्वाक मत की मान्यतायें भोले प्राणियों को ठगने वाली

मद्याङ्गवद्भूत-समागमे ज्ञः
शक्त्यंतर-व्यक्तिरदैव-सृष्टि: ।
इत्यात्म-शिश्नोदर-पुष्टि-तुष्टै-
र्निर्ह्रीभयैर्हा ! मृदव: प्रलब्धा: ॥35॥
अन्वयार्थ : [मद्याङ्गवद् भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिः] जिस प्रकार मद्य के अंगभूत - पिष्ठोदक, गुड़, धतकी आदि - के समागम (समुदाय) होने पर मदशक्ति की उत्पत्ति अथवा आविर्भूती होती है, उसी तरह भूतों के (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तत्त्वों के) समागम पर चैतन्य उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होता है और यह सब शक्तिविशेष की अभिव्यक्ति है, कोई [अदैवसृष्टिः] दैव सृष्टि नहीं है। [इति] इस

प्रकार (यह जिनका सिद्धान्त है) उन [आत्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैः] अपने शिश्न (लिंग) तथा उदर की पुष्टि में ही संतुष्ट रहने वाले [निर्ह्रीभयैः] निर्लज्जों और निर्भयों के द्वारा [हा] हा! खेद है कि [मृदवः] कोमल-बुद्धि (भोले-प्राणी) [प्रलब्धः] ठगे गये हैं।

भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति की मान्यता का निरसन-

दृष्टेऽविशिष्टे जननादि हेतौ
विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम् ।
स्वभावत: किं न परस्य सिद्धि
रतावकानामपि हा ! प्रपात: ॥36॥

अन्वयार्थ : [जननादिहेतौ] जब चैतन्य की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति का कारण पृथिवी आदि भूतों का समुदाय - [अविशिष्टे] सामान्य (बिना किसी विशेषता के) [दृष्टे] देखा जाता है [प्रतिसत्त्वमेषाम्] तब इनके (चार्वाकों के) मत में प्राणी-प्राणी के प्रति [का विशिष्टता] क्या विशेषता बन सकती है? (इस पर) [स्वभावतः] यदि उस विशिष्टता की सिद्धि स्वभाव से ही मानी जाये तो फिर [परस्य सिद्धिः] चारों भूतों से भिन्न पाँचवें आत्मतत्त्व की सिद्धि [किं न] स्वभाव से क्यों नहीं मानी जाये? [अतावकानाम्] इस तत्त्वान्तर-सिद्धि को न मानने वाले जो अतावक हैं (दर्शनमोह के उदय से आकुलित-चित्त हुए, आप वीर जिनेन्द्र के मत से बाह्य हैं) उनका (जीविकामात्र-तन्त्र-विचारकों का) [अपि] भी [हा!] हाय! यह कैसा [प्रपातः] प्रपतन हुआ है (जो उन्हें संसार-समुद्र के आवर्त में गिराने वाला है) !!

चार्वाक एवं मीमांसक मत से स्वच्छन्द वृत्ति की पुष्टि

स्वच्छंदवृत्तेर्जगत: स्वभावात्-
उच्चैरनाचारपथेष्वदोषम् ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमाना-
स्त्वद्दृष्टि बाह्या बत ! विभ्रमंति ॥37॥

अन्वयार्थ : [स्वभावात्] स्वभाव से ही [जगतः] जगत् की [स्वच्छन्दवृत्तेः] स्वच्छन्द-वृत्ति है, इसलिये जगत् के [उच्चैः] ऊंचे दर्जे के [अनाचारपथेषु] अनाचार-मार्गों में (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह नाम के पाँच महापापों में) भी [अदोषं] कोई दोष नहीं है, ऐसी [निर्घुष्य] घोषणा करके [दीक्षासममुक्तिमानाः] दीक्षा के समकाल ही मुक्ति को मानकर जो अभिमानी हो रहे हैं, वे सब, हे वीर जिन! [त्वद्-दृष्टि-बाह्याः] आपकी दृष्टि से (बन्ध, मोक्ष और तत्कारण-निश्चय के निबन्धनस्वरूप आपके स्याद्वाद दर्शन से) बाह्य हैं और [विभ्रमन्ति] केवल विभ्रम में पड़े हुए हैं [बत!] यह बड़े ही खेद अथवा कष्ट का विषय है ।

मीमांसक द्वारा मान्य हिंसादि से स्वर्ग की प्राप्ति मिथ्या

प्रवृत्तिरक्तै: शमतुष्टिरिक्तै-
रूपेत्य हिंसाऽभ्युदयाङ्गनिष्ठा ।
प्रवृत्तितः शांतिरपि प्ररूढं
तम: परेषां तव सुप्रभातम् ॥38॥

अन्वयार्थ : [शम-तुष्टि-रिक्तैः] जो लोग शान्ति और सन्तुष्टि से शून्य हैं और इसलिये [प्रवत्तिरक्तैः] प्रवृत्ति-रक्त हैं (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह में किसी प्रकार का नियम अथवा मर्यादा न रखकर उनमें प्रकर्षरूप से प्रवृत्त अथवा आसक्त हैं) उन (यज्ञवादी मीमांसकों) के द्वारा [उपेत्य] (प्रवृत्ति को) स्वयं अपनाकर, [हिंसा अभ्युदयाङ्ग-निष्ठा] 'हिंसा स्वर्गादिक-प्राप्ति के हेतु की आधरभूत है' ऐसी जो मान्यता है, इसी तरह [प्रवृत्तितः शान्तिः अपि] 'प्रवृत्ति से शान्ति होती है' ऐसी जो मान्यता [प्ररूढं] प्रचलित की गई है, वह भी [परेषां] दूसरों का (उनका) [तमः] घोर अन्धकार है । अतः [तव] (हे वीर जिन!) आपका मत ही [सुप्रभातम्] सुप्रभातरूप है ।

प्रचलित अन्य मिथ्या मान्यतायें युक्तिपूर्ण नहीं

शीर्षोपहारादि भिरात्मदुःखै-

र्देवान्किलाऽऽराध्य सुखाभिगृद्धा: ।
सिद्ध्यंति दोषाऽपचयाऽनपेक्षा-
युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥39॥

अन्वयार्थ : [आत्म-दुःखैः] जीवात्मा के लिये दुःख के निमित्तभूत जो [शीर्षोपहारादिभिः] अपने या बकरे आदि के सिर की बलि चढ़ाना आदि के द्वारा [देवान्] देवों की [किल आराध्य] आराधना करके केवल वे ही लोग [सिद्ध्यंति] सिद्ध होते हैं - अपने को सिद्ध समझते हैं या घोषित करते हैं - जो [दोषाऽपचयाऽनपेक्षा] दोषों के विनाश की अपेक्षा नहीं रखते और [सुखाभिगृद्धाः] काम-सुखादि के लोलुपी हैं [तेषां च] और यह बात उन्हीं के लिए [युक्तं] युक्त है [येषां] जिनके, हे वीर जिन! [त्वं] आप [ऋषिः] गुरु [न] नहीं हैं ।

विशेष सामान्यनिष्ठ है अतः वस्तु सामान्य-विशेषात्मक

सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषा
पदं विशेषांतर पक्षपाति ।
अंतर्विशेषांतर वृत्तितोऽन्यत्
समानभावं नयते विशेषम् ॥40॥

अन्वयार्थ : [विविधः विशेषाः] जो विविध् (अनेक प्रकार के) विशेष हैं, वे सब [सामान्य-निष्ठाः] सामान्यनिष्ठ हैं। [पदं] (वर्णसमूहरूप) पद जो कि [विशेषान्तरपक्षपाति] विशेषान्तर का पक्षपाती (स्वीकार करने वाला) होता है वह विशेष को प्राप्त कराता है। साथ ही [अन्तर्विशेषान्तर्वृत्तितः] विशेषान्तरों के अन्तर्गत उसकी (पद की) वृत्ति होने से [अन्यत्] दूसरे (जात्यात्मक) [विशेषं] विशेष को [समानभावं] सामान्य रूप में भी [नयते] प्राप्त कराता है ।

'एवकार' एकान्तिक पक्ष होने से वस्तु का अभाव

यदेवकारोपहितं पदं तद्-
अस्वार्थत: स्वार्थमवच्छिनत्ति ।
पर्यायसामान्यविशेष सर्वं
पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥41॥

अन्वयार्थ : [यत्पदं] जो पद [एवकारोपहितं] एवकार - 'एव' नाम के निपात - से उपहित (युक्त) है [तद्] वह (जैसे) [अस्वार्थतः] अस्वार्थ से (अजीवत्व से) [स्वार्थम्] स्वार्थ को (जीवत्व को) [अवच्छिनत्ति] अलग करता है (व्यवच्छेदक है), (वैसे ही) [पर्याय-सामान्य-विशेषसर्वं] सब स्वार्थ-पर्यायों, स्वार्थ-सामान्यों और स्वार्थ-विशेषों को भी अलग करता है। [च पदार्थहानिः] और इससे पदार्थ की (जीवपद के अभिधेयरूप जीवत्व की) भी हानि उसी प्रकार ठहरती है [विरोधिवत्] जिस प्रकार कि विरोधी (अजीवत्व) की हानि [स्यात्] होती है ।

'एवकार' के न कहने पर वस्तु के वस्तुत्व की हानि

अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं
व्यावृत्यभावान्नियमद्वयेऽपि ।
पर्यायभावेऽन्यतरप्रयोग-
स्तत्सर्वमन्यच्युतमात्महीनम् ॥42॥

अन्वयार्थ : [यत्] जो पद [अनेवकारं] एवकार से रहित है वह [अनुक्ततुल्यं] नहीं कहे हुए के समान है, क्योंकि उससे [नियमद्वयेऽपि] नियम-द्वय के इष्ट होने पर भी [व्यावृत्यभावात्] व्यावृत्ति का (प्रतिपक्ष का) अभाव होता है तथा [पर्यायभावे] (पदों में परस्पर) पर्यायभाव ठहरता है, (पर्यायभाव के होने पर परस्पर प्रतियोगी पदों में से) [अन्यतरप्रयोगः] चाहे जिस पद का कोई प्रयोग कर सकता है और (चाहे जिस पद का प्रयोग होने पर) [तत् सर्वं] सम्पूर्ण (जानने योग्य वस्तु) [अन्यच्युतं] और जो प्रतियोगी से रहित होता है)वह [आत्महीनम्]

अपने स्वरूप से रहित होता है।

'स्यात्' शब्द से ही वस्तु के स्वरूप का निश्चय

विरोधि चाऽभेद्यविशेषभावात्-
तद्द्योतन: स्याद्गुणतो निपात: ।
विपाद्यसंधिश्च तथाऽङ्गभावा-
दवाच्यता श्रायसलोपहेतु: ॥43॥

अन्वयार्थ : [च] और यदि (सत्ताऽद्वैतवादियों अथवा सर्वथा शून्यवादियों की मान्यतानुसार सर्वथा अभेद का अवलम्बन लेकर यह कहा जाये कि-) पद (अस्ति या नास्ति) [अभेदि] एक ही है तो [विरोधि] यह कथन विरोधी है (अथवा इससे उस पद का अभिधेय / वाच्य आत्महीन ही नहीं, किन्तु विरोधी भी हो जाता है), क्योंकि [अविशेषभावात्] किसी भी विशेष का (भेद का) तब अस्तित्व बनता ही नहीं है। [तद्द्योतनः] उस विरोधी धर्म का द्योतक [स्यात्] 'स्यात्' नाम का [निपातः] शब्द है जो [गुणतः] गौणरूप से उस धर्म का द्योतन करता है, [च] साथ ही [विपाद्यसन्धिः] (वह 'स्यात्' पद) विपक्षभूत धर्म के संयोजना-स्वरूप होता है, (उसके रहते दोनों धर्मों में विरोध नहीं रहता) क्योंकि [तथाऽङ्गभावात्] दोनों में अंगपना है (और स्यात्पद दोनों अंगों को जोड़ने वाला है) । [अवाच्यता] सर्वथा अवक्तव्यता तो (युक्त नहीं है, क्योंकि वह) [श्रायसलोपहेतुः] आत्महित (मोक्ष) के लोप की कारण है ।

बिना कहे भी 'स्यात्' शब्द का ग्रहण करना चाहिए

तथा प्रतिज्ञाऽऽशयतोऽप्रयोग:
सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधयुक्ति: ।
इति त्वदीया जिननाग ! दृष्टिः
पराऽप्रधृष्या परधर्षिणी च ॥44॥

अन्वयार्थ : (शास्त्र में और लोक में 'स्यात्' शब्द का) [अप्रयोगः] जो अप्रयोग है (हर-एक पद के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता है, उसका कारण) [तथा] उस प्रकार का [प्रतिज्ञाऽऽशयतः] प्रतिज्ञा में प्रतिपादन करने वाले का अभिप्राय सन्निहित है । [वा] अथवा (स्याद्वादियों के) [प्रतिषेध-युक्तिः] सर्वथा एकान्त के व्यवच्छेद की युक्ति [सामर्थ्यतः] सामर्थ्य से ही घटित हो जाती है । [इति] इस प्रकार [जिननाग] हे जिनश्रेष्ठ वीर भगवन्! [त्वदीया दृष्टिः] आपकी दृष्टि (नागदृष्टिसम अनेकान्त) [पराऽप्रधृष्या] दूसरों के (सर्वथा एकान्तवादियों के) द्वारा अबाधित-विषया है [च] और साथ ही [परधर्षिणी] दूसरे भावैकान्तादि-वादियों की दृष्टि को तिरस्कृत करने वाली है ।

सप्तभंगी का निरूपण

विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च
त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी
स्याच्छब्दनेया: सकलेऽर्थभेदे ॥45॥

अन्वयार्थ : [विधिः] अस्ति, [निषेधः] नास्ति [च] और [अनभिलाप्यता] अवक्तव्यता - ये [एकशः] एक-एक करके (पद के) [त्रिः] तीन मूल विकल्प हैं । (इनके विपक्षभूत धर्म की संधि-संयोजना रूप से) [द्विशः] द्विसंयोजक [त्रिः] तीन विकल्प होते हैं । और [त्रायः] त्रिसंयोजक [एक एव] एक ही विकल्प है । इस तरह से [अमी] ये [सप्तध] सात [विकल्पाः] विकल्प, हे वीर जिन! [सकले] सम्पूर्ण [अर्थभेदे] अर्थभेद में [तव] आपके यहाँ घटित होते हैं और ये सब विकल्प [स्यात्शब्दनेयाः] 'स्यात्' शब्द के द्वारा नेय हैं (नेतृत्व को प्राप्त हैं) ।

'स्यात्' के प्रयोग से ही अनेकान्तात्मक वस्तु की सिद्धि

स्यादित्यपि स्याद्गुणमुख्यकल्पै-

कांतोयथोपाधिविशेषवीक्ष्य: ।

तत्त्वं त्वनेकांतमशेष रूपं

द्विधा भवार्थव्यवहारवत्त्वात् ॥46॥

अन्वयार्थ : 'स्यात्' [इत्यपि] यह शब्द भी [गुण-मुख्य-कल्पैकान्तः] गुण (गौण) और मुख्य स्वभावों के द्वारा कल्पित किये हुए एकान्तों को लिये हुए [स्यात्] होता है, [यथोपाधि विशेषवीक्ष्यः] क्योंकि वह यथोपाधि (विशेषणानुसार) विशेष का द्योतक होता है। [तत्त्वं] तत्त्व [तु] तो [अशेषरूपं] सम्पूर्ण रूप से [अनेकान्तम्] अनेकान्त है (अनेकान्तात्मक है) और [द्विधा] वह तत्त्व दो प्रकार से व्यवस्थित है, [भवार्थ-व्यवहारवत्त्वात्] एक भवार्थवान् होने से और दूसरा व्यवहारवान् होने से ।

स्याद्वाद में ही अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व का सम्यक् निरूपण संभव

न द्रव्यपर्याय पृथग्व्यवस्था

द्वैयात्म्यमेकाऽर्पणया विरुद्धम् ।

धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमौ

न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धो ॥47॥

अन्वयार्थ : [न द्रव्य-पर्याय-पृथग्व्यवस्था] न सर्वथा द्रव्य की, न सर्वथा पर्याय की और न सर्वथा प्रथग्भूत (परस्पर निरपेक्ष) द्रव्य-पर्याय (दोनों) की ही कोई व्यवस्था बनती है। यदि [द्वैयात्म्यं] सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व माना जाये तो यह सर्वथा द्वैयात्म्य [एकार्पणया] एक की अर्पणा से [विरुद्धम्] विरुद्ध पड़ता है । किन्तु (हे वीर जिन!) [ते] आपके [अभिमतौ] मत में [धर्मी च धर्मः च] ये द्रव्य और पर्याय [मिथः] परस्पर में [त्रिध इमौ] असर्वथारूप से तीन प्रकार - भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाभिन्न - माने गये हैं और (इसलिये) [न सर्वथा विरुद्धौ] सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं ।

वीर शासन की 'युक्त्यनुशासन' ही सार्थक संज्ञा

दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थ-

प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।

प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्म-

तत्त्वव्यवस्थं सदिहाऽर्थरूपम् ॥48॥

अन्वयार्थ : [दृष्टागमाभ्यां] प्रत्यक्ष (दृष्ट) और आगम से [अविरुद्धं] अविरोधरूप [अर्थप्ररूपणं] अर्थ (वस्तु) रूप से प्ररूपण है उसे [युक्त्यनुशासनं] युक्त्यनुशासन कहते हैं और वही [ते] (हे वीर भगवन्!) आपको अभिमत है। [इह] यहाँ [अर्थरूपं] अर्थ (वस्तु) का रूप [प्रतिक्षणं] प्रतिक्षण [स्थित्युदय-व्ययात्मतत्त्व-व्यवस्थं] स्थिति (ध्रौव्य), उदय (उत्पाद) और व्यय (नाश) रूप तत्त्व-व्यवस्था को लिये हुए है, क्योंकि वह [सत्] सत् है।

एकानेक रूप वस्तु की सिद्धि

नानात्मतामप्रजहत्तदेक-

मेकात्मतामप्रजहच्च नाना ।

अङ्गांङ्गिभावात्तव वस्तु तद्यत्

क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम् ॥49॥

अन्वयार्थ : (हे वीर जिन!) [तव] आपके शासन में जो [वस्तु] (जीवादि) वस्तु [एकम्] एक है (सत्वरूप एकत्व-प्रत्यभिज्ञान का विषय होने से) [तद् नानात्मताम्] वह (समीचीन नाना-ज्ञान का विषय होने से) अनेकरूपता का [अप्रजहत्] त्याग न करती हुई ही वस्तुतत्त्व को

प्राप्त होती है। [च] और (इसी तरह) जो वस्तु (अबाधित नाना-ज्ञान का विषय होने से) [नाना] नानात्मक प्रसिद्ध है वह [एकात्मताम्] एकात्मता को [अप्रजहत्] न छोड़ती हुई ही वस्तुस्वरूप से अभिमत है। [यत् अनन्तरूपम्] वस्तु जो अनन्तरूप है, [तत्] वह [अङ्गांङ्गिभावात्] अङ्ग-अङ्गी भाव के कारण (गुण-मुख्य की विवक्षा को लेकर) [क्रमेण] क्रम से [वाग्वाच्यम्] वचन-गोचर है ।

सापेक्ष नयों से वस्तु तत्त्व की सिद्धि

मिथोऽनपेक्षा: पुरुषार्थहेतु-
र्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्य: ।
परस्परेक्षा: पुरुषार्थहेतु-
र्दृष्टा नयास्तद्वदसिक्रियायाम् ॥50॥

अन्वयार्थ : [अंशाः] जो अंश (धर्म अथवा वस्तु के अवयव) [मिथोऽनपेक्षाः] परस्पर-निरपेक्ष हैं वे [पुरुषार्थहेतुः] पुरुषार्थ के हेतु [न] नहीं हो सकते [च] और [अंशी] अंशी (धर्मी अथवा अवयवी) [तेभ्यः] उन अंशो से (धर्मों अथवा अवयवों से) [पृथक् न अस्ति] पृथक् नहीं है। [तद्वत्] अंश-अंशी की तरह [परस्परेक्षाः] परस्पर-सापेक्ष [नयाः] नय (नैगमादिक) [असिक्रियायाम्] असिक्रिया (होने / सत्ता अर्थ) में [पुरुषार्थहेतुः] पुरुषार्थ के हेतु हैं, क्योंकि (उस रूप में) [दृष्टाः] देखे जाते हैं ।

अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्व का निश्चय ही सम्यग्दर्शन

एकांतधर्माऽभिनिवेश मूला-
रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम् ।
एकांत हानाच्च स यत्तदेव
स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ॥51॥

अन्वयार्थ : वे [रागादयः] राग-द्वेषादिक (मन की समता का निराकरण करने वाले) [एकान्त-धर्माऽभिनिवेशमूलाः] एकान्त-रूप से निश्चय किये हुए (नित्यत्वादि) धर्म में आसक्ति (मिथ्याश्रद्धान) का मूल कारण होता है [जनानां] (मोही-मिथ्यादृष्टि) जीवों की [अहंकृतिजाः] अहंकार तथा ममकार से उत्पन्न होते हैं [च] और (सम्यग्दृष्टि जीवों के) [एकान्तहानात्] एकान्त ग्रहण न होने से [स] वह (एकान्तधर्माभिनिवेश) [यत् स्वाभाविकत्वात्] उसी अनेकान्त के निश्चयरूप सम्यग्दर्शनत्व को धारण करता है जो आत्मा का स्वाभाविक रूप है । अतः (हे वीर भगवान्!) [ते] आपके यहाँ (आपके युक्त्यनुशासन में) [तदेव] ऐसे ही [समं मनः] (सम्यग्दृष्टि के) मन का समत्व ठीक घटित होता है ।

बन्ध्-मोक्ष की समीचीन सिद्धि अनेकान्त मत से ही संभव

प्रमुच्यते च प्रतिपक्षदूषी
जिन: त्वदीयै: पटुसिंहनादै: ।
एकस्य नानात्मतया ज्ञवृत्ते-
स्तौ बंधमोक्षौ स्वमतादबाह्यौ ॥52॥

अन्वयार्थ : जो [प्रतिपक्षदूषी च] प्रतिद्वन्द्वी का सर्वथा निराकरण करने वाला (एकान्तग्रही) है वह तो [जिन!] हे वीर जिन! [त्वदीयैः] आप (अनेकान्तवादी) के [एकस्य नानात्मतया] एकाऽनेकरूपता जैसे [पटुसिंहनादैः] निश्चयात्मक एवं सिंहगर्जना की तरह अबाध्य (ऐसे युक्ति-शास्त्रऽविरोधी आगमवाक्यों के प्रयोग) द्वारा [प्रमुच्यते] मुक्त कराता है। अतः [बन्धमोक्षौ] बन्ध और मोक्ष [स्वमतात्] अपने (अनेकान्त) मत से [अबाह्यौ] बाह्य नहीं हैं, क्योंकि [तौ] वे दोनों (बन्ध और मोक्ष) [ज्ञवृत्तेः] (अनेकान्तवादियों के द्वारा स्वीकृत) ज्ञाता (आत्मा) में ही उनकी प्रवृत्ति है ।

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु तत्त्व की सिद्धि

आत्मान्तराऽभावसमानता न

वागास्पदं स्वाऽऽश्रयभेदहीना ।
भावस्य सामान्यविशेषवत्त्वा-
दैक्ये तयोरन्यतरन्निरात्म ॥53॥

अन्वयार्थ : [आत्मान्तराऽभावसमानता] आत्मस्वभाव से भिन्न (अन्य-अन्य स्वभाव) के अपोहरूप (निषेध-रूप) जो समानता (सामान्य) [स्वाऽऽश्रय-भेदहीना] अपने आश्रयरूप भेदों से हीन (रहित) है [न वागास्पदं] वह वचनगोचर नहीं होती । [भावस्य] पदार्थ के [सामान्यविशेषवत्त्वात्] सामान्य और विशेष [तयोः] दोनों की [ऐक्ये] एकरूपता स्वीकार करने पर [निरात्म] एक के अभाव होने पर [अन्यतरत्] दूसरा भी (अविनाभावी होने के कारण) निरात्म हो जाता है ।

सामान्य मात्र वस्तु की सिद्धि संभव नहीं

अमेयमश्लिष्टममेयमेव
भेदेऽपि तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात् ।
वृत्तिश्च कृत्स्नांश विकल्पतो न
मानं च नाऽनन्तसमाश्रयस्य ॥54॥

अन्वयार्थ : [भेदेऽपि] भेद के मानने पर भी (सामान्य को स्वाश्रयभूत द्रव्यादिकों के साथ भेदरूप स्वीकार करने पर भी) [अमेयम्] जो अमेय है (नियत देश, काल और आकार की दृष्टि से जिसका कोई अनुमान नहीं लगााया जा सकता है) और [अश्लिष्टम्] किसी भी प्रकार के विशेष (भेद) को साथ में लिये नहीं है वह (सर्वव्यापी, नित्य, निराकाररूप सत्त्वादि) सामान्य [अमेयम्] अप्रमेय (किसी भी प्रमाण से जाना नहीं जा सकता) [एव] ही है, क्योंकि [तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात्] उन द्रव्यादिकों में उसकी वृत्ति की अपवृत्ति (व्यावृत्ति) का सद्भाव है। [वृत्तिः च] (यदि सामान्य की द्रव्यादिवस्तु के साथ वृत्ति मानी भी जाये तो) वह वृत्ति भी (न तो सामान्य को) [कृत्स्नांशविकल्पतः न] निरंश (सम्पूर्ण) विकल्परूप से मानकर बनती है और न अंश विकल्परूप से मानकर बनती है। [अनन्तसमाश्रयस्य च] जो अनन्त व्यक्तियों के समाश्रयरूप है उस एक (सत्ता-महासामान्य) के ग्राहक [मानं] प्रमाण [न] का अभाव है ।

अवस्तुभूत सामान्य अप्रमेय होने से वस्तु तत्त्व की सिद्धि नहीं

नाना सदेकात्मसमाश्रयं चेद्-
ऽन्यत्वमद्विष्ठमनात्मनोः क्व ।
विकल्पशून्यत्वमवस्तुनश्चेत्
तस्मिन्नमेये क्व खलु प्रमाणम् ॥55॥

अन्वयार्थ : [नाना-सदेकात्मसमाश्रयं] नाना सत्वों (विविध् सत्पदार्थों, द्रव्य-गुण-कर्मों) का एक आत्मा (एक स्वभावरूप व्यक्तित्व जैसे सदात्मा, द्रव्यात्मा, गुणात्मा अथवा कर्मात्मा) ही जिसका समाश्रय है [चेत्] ऐसा सामान्य यदि (सामान्यवादियों के द्वारा) माना जाये और उसे ही प्रमाण का विषय बतलाया जाये तो यह प्रश्न होता है कि उनका वह सामान्य [अन्यत्वम्] (अपने व्यक्तियों से) अन्य (भिन्न) है [अद्विष्ठम्] या अनन्य (अभिन्न) ? (यदि वह एक स्वभाव के आश्रयरूप सामान्य अपने व्यक्तियों से सर्वथा अन्य / भिन्न है तो) [अनात्मनोः] व्यक्तियों तथा सामान्य दोनों के ही अनात्मा (अस्तित्वविहीन) होने पर वह अन्यत्वगुण (जिसे अद्विष्ठ माना गया है) [क्व] किसमें रहेगा? [चेत्] यदि सामान्य को (वस्तुभूत न मान कर) [अवस्तुनः] अवस्तु (अन्याऽपोहरूप) ही इष्ट किया जाये और उसे [विकल्पशून्यत्वम्] विकल्पों से शून्य माना जाये [तस्मिन् अमेये] तो उस अवस्तुरूप सामान्य के अमेय होने पर [प्रमाणम्] प्रमाण की प्रवृत्ति [क्व खलु] कहाँ होती है?

अन्य दर्शनों में मान्य सामान्य-विशेष के स्वरूप से वस्तु स्वरूप की सिद्धि नहीं

व्यावृत्तिहीनान्वयतो न सिद्ध्येद्,
विपर्ययेऽप्यद्वितयेऽपि साध्यम् ।

अतद्व्युदासाभिनिवेशवाद:,
पराभ्युपेतार्थविरोधवाद: ॥56॥

अन्वयार्थ : [साध्यं] यदि साध्य (सत्तारूप परसामान्य अथवा द्रव्यत्वादिरूप अपरसामान्य) को [व्यावृत्ति-हीनाऽन्वयतः] व्यावृत्तिहीन अन्वय से सिद्ध माना जाये तो वह [न सिध्येत्] सिद्ध नहीं होता है । [विपर्यये अपि] यदि इसके विपरीत अन्वयहीन व्यावृत्ति से साध्य (सामान्य) को सिद्ध माना जाये तो वह भी नहीं बनता । (यदि यह कहा जाये कि) [अद्वितये अपि] अन्वय और व्यावृत्ति दोनों से हीन जो अद्वितयरूप हेतु है (उससे सन्मात्रा का प्रतिभासन होने से सत्ताद्वैतरूप सामान्य की सिद्धि होती है) [न सिध्येत्] तो इस प्रकार भी यह सिद्धि नहीं है। [अतद्व्युदासाभिनिवेशवादः] यदि अद्वितय को संवित्तिमात्रा (ज्ञानमात्रा) के रूप में मानकर असाधनव्यावृत्ति से साधन को और असाध्यव्यावृत्ति से साध्य को अतद्व्युदास-अभिनिवेशवाद (अनधिकृत के प्रतिषेध-रूप दृढ़ निश्चयवाद) के रूप में आश्रित किया जाये तब भी (बौद्धों के मत में) [पराऽभ्युपेताऽर्थविरोध्वादः] पर के द्वारा स्वीकृत वस्तु तत्त्व के विरोधवाद का प्रसंग आता है ।

निःस्वभावभूत संवृतिरूप साधन से संवृतिरूप साध्य की सिद्धि की युक्ति वस्तु स्वरूप के निर्धरण में असमर्थ

अनात्मनाऽनात्मगतेरयुक्ति-
र्वस्तुन्ययुक्तेर्यदि पक्षसिद्धि: ।
अवस्त्वयुक्ते: प्रतिपक्षसिद्धि:,
न च स्वयं साधनरिक्तसिद्धि: ॥57॥

अन्वयार्थ : [अनात्मना] अनात्मा (निःस्वभाव संवृतिरूप तथा असाधन की व्यावृत्तिमात्रारूप) साधन के द्वारा [अनात्मगतेः] (उसी प्रकार के) अनात्मसाध्य की जो गति-प्रतिपत्ति (बोध, जानकारी) है उसकी सर्वथा [अयुक्तिः] अयुक्ति (अयोजना) है (वह बनती ही नहीं है)। [यदि] यदि [वस्तुनि] वस्तु में [अयुक्तेः] (अनात्मसाधन के द्वारा अनात्मसाध्य की गति की) अयुक्ति से [पक्षसिद्धिः] पक्ष की सिद्धि मानी जाये तो [अवस्त्वयुक्तेः] अवस्तु में साधन-साध्य की अयुक्ति से [प्रतिपक्षसिद्धिः] प्रतिपक्ष की (द्वैत की) भी सिद्धि ठहरती है [च स्वयं] और यदि स्वतः ही [साधनरिक्तसिद्धिः] साधन के बिना (संवेदनाद्वैतरूप साध्य की) सिद्धि मानी जाये तो वह [न] युक्त नहीं है ।

संवेदनाद्वैत स्वपक्ष का घातक

निशायितस्तैः परशु: परघ्न:,
स्वमूर्ध्नि निर्भेदभयाऽनभिज्ञै: ।
वैतण्डिकैर्यै: कुसृति: प्रणीता,
मुने! भवच्छासनदृक्प्रमूढैः ॥58॥

अन्वयार्थ : (इस तरह) [मुने!] हे वीर भगवन्! [यैः वैतण्डिकैः] जिन वैतण्डिकों ने (परपक्ष के दूषण की प्रधनता अथवा एकमात्रा धुन को लिये हुए संवेदनाद्वैतवादियों ने) [कुसृतिः] कुत्सिता गति-प्रतीति (कुमार्ग) का [प्रणीता] प्रणयन किया है, [तैः] उन [भवच्छासन-दृक्-प्रमूढैः] आपके (स्याद्वाद) शासन की दृष्टि से प्रमूढ एवं [निर्भेदभयाऽनभिज्ञैः] निर्भेद के भय से अनभिज्ञ जनों ने (दर्शनमोह के उदय से आक्रान्त होने के कारण) [परघ्नः] परघातक [परशुः] परशु-कुल्हाड़े को [स्वमूर्ध्न] अपने ही मस्तक पर [निशायितः] मारा है !

सर्वशून्यतारूप अभावैकान्त से वस्तु स्वरूप की सिद्धि संभव नहीं

भवत्यभावोपि च वस्तुधर्मो
भावांतरं भाववदर्हतस्ते ।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तुव्यवस्थांगममेयमन्यत् ॥59॥

अन्वयार्थ : [ते अर्हतः] हे वीर अर्हन्! आपके मत में [अभावः अपि] अभाव भी [वस्तुधर्मः] वस्तुधर्म [भवति] होता है [च] और यदि वह

अभाव (धर्म का अभाव न होकर धर्मी का अभाव है) तो वह [भाववत्] भाव की तरह [भावान्तरं] भावान्तर होता है। (इस सब का कारण यह है कि) [च प्रमीयते] अभाव को प्रमाण से जाना जाता है और [व्यपदिश्यते च] कथन किया जाता है और [वस्तुव्यवस्थाऽङ्गम्] वस्तु-व्यवस्था के अंगरूप में निर्दिष्ट किया जाता है । [अन्यत्] इससे भिन्न अभाव (जो अभाव-तत्त्व / सर्वशून्यता वस्तु-व्यवस्था का अंग नहीं है, वह भाव-एकान्त की तरह) [अमेयम्] अमेय (अप्रमेय) ही है अर्थात् किसी भी प्रमाण के गोचर नहीं है ।

वाक्य विधि-प्रतिषेध दोनों का विधायक है

विशेषसामान्यविषक्तभेद-
विधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यम् ।
अभेदबुद्धेरविशिष्टता स्याद्
व्यावृतिबुद्धेश्च विशिष्टता ते ॥60॥

अन्वयार्थ : [विशेष-सामान्य-विषक्त-भेद-विधिव्यवच्छेद-विधयिवाक्यम्] वाक्य (वस्तुतः) विशेष (विसदृश परिणाम) और सामान्य (सदृश परिणाम) को लिये हुए जो (द्रव्य-पर्याय की अथवा द्रव्य-गुण-कर्म की व्यक्तिरूप) भेद हैं उनके विधि और प्रतिषेध दोनों का विधायक (व्यवस्थित करने वाला) होता है। हे वीर जिन! [ते] आपके यहाँ - स्याद्वाद शासन में - [अभेदबुद्धेः] (जिस प्रकार) अभेदबुद्धि से (द्रव्यत्वादि व्यक्ति की) [अविशिष्टता] अविशिष्टता (समानता) होती है [च] उसी प्रकार [व्यावृत्तिबुद्धेः] भेदबुद्धि से [विशिष्टता] विशिष्टता की [स्यात्] प्राप्ति होती है ।

स्याद्वाद शासन सभी की उन्नति का साध्क-रूप 'सर्वोदय' तीर्थ

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥61॥

अन्वयार्थ : हे वीर भगवन्! [तव] आपका [इदं] यह [तीर्थं] तीर्थ (प्रवचनरूप शासन, अर्थात् परमागम वाक्य, जिसके द्वारा संसार-महासमुद्र को तिरा जाता है) [एव] ही [सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं] सर्वान्तवान् है (सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि्-निषेध्, एक-अनेक आदि सभी धर्मों को लिये हुए है) और गौण तथा मुख्य की कल्पना को साथ में लिये हुए है। जो शासन-वाक्य धर्मों में) [मिथोऽनपेक्षं] पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता (उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है वह) [सर्वान्तशून्यं] सर्व धर्मों से शून्य है । (अतः आपका यह शासन-तीर्थ ही) [सर्वापदाम्] सर्व आपदाओं (दुःखों) का [अन्तकरं] अन्त करने वाला है, यही [निरन्तं] (किसी भी मिथ्यादर्शन के द्वारा) खण्डनीय नहीं है [च] और यही [सर्वोदयं] सब प्राणियों के अभ्युदय का साधक, ऐसा सर्वोदय-तीर्थ है ।

हे वीर जिन! आपके शासन में श्रद्धान करने वाला अभद्र भी समन्तभद्र हो जाता है

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षु:
समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डित मानशृङ्गो,
भवत्यभद्रोपि समंतभद्रः ॥62॥

अन्वयार्थ : (हे वीर जिन!) [ते] आपके [इष्टं] इष्ट-शासन से [कामं] यथेष्ट (भरपेट) [द्विषन् अपि] द्वेष रखने वाला मनुष्य भी यदि [समदृष्टिः] समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ, [उपपत्तिचक्षुः] मात्सर्य (विद्वेष) के त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधन की दृष्टि से [त्वयि] आपके इष्ट का (शासन का) [समीक्ष्यतां] अवलोकन और परीक्षण करता है तो [ध्रुवं] अवश्य ही [खण्डितमानश्रृङ्गः] उसका मान-शिखर खण्डित हो जाता है और वह [अभद्रः अपि] अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी [समन्तभद्रः] सब ओर से भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि [भवति] बन जाता है ।

राग-द्वेष से रहित हिताभिलाषियों के हित के उपायभूत यह आपके गुणों का स्तवन किया है

न रागान्न: स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ,
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ।
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञ मनसां
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासङ्गगदित: ॥63॥

अन्वयार्थ : (हे वीर भगवन्!) [स्तोत्रां] हमारा यह स्तोत्रा [भवपाशच्छिदि] आप जैसे भव-पाश-छेदक [मुनौ] मुनि के प्रति [रागात् न भवति] रागभाव से नहीं है, [न] न हो सकता है । [च] और [अन्येषु] दूसरों के प्रति [द्वेषात्] द्वेषभाव से भी इस स्तोत्र का कोई [न] सम्बन्ध नहीं है हम तो [अपगुण-कथाभ्यास-खलता] दुर्गुणों की कथा के अभ्यास को दुष्टता (खोटा अभिप्राय) समझते हैं । (तब फिर) उद्देश्य यही है कि [न्यायान्याय-प्रकृत-गुण-दोष-ज्ञमनसां किमु] जो लोग न्याय-अन्याय को पहचानना चाहते हैं, और प्रकृत पदार्थ के गुण-दोषों को जानने की जिनकी इच्छा है, उनके लिये यह स्तोत्रा [हितान्वेषोपायः] 'हितान्वेषण के उपायस्वरूप' [तव] आपकी [गुण-कथा-सङ्ग-गदितः] गुण-कथा के साथ कहा गया है ।

हे महावीर स्वामी! आप ही स्तुति के योग्य

इति स्तुत्य: स्तुत्यैस्त्रिदशमुनिमुख्यै: प्रणिहितैः,
स्तुत: शक्त्या श्रेय: पदमधिगतस्त्वं जिन ! मया ।
महावीरो वीरो दुरितपरसेनाऽभिविजये
विधेया मे भक्तिं पथि भवत एवाप्रतिनिधौ ॥64॥

अन्वयार्थ : [जिन!] हे वीर जिन! [त्वं] आप [दुरित-पर-सेनाभिविजये] दुष्कृत पर की (मोहादिरूप कर्म-शत्रुओं की) सेना को पूर्णरूप से पराजित करने से [वीरः] वीर हैं, [श्रेयः पदं] मोक्ष-पद को [अधिगतः] प्राप्त करने से [महावीरः] महावीर हैं और [त्रिदश-मुनिमुख्यैः] देवेन्द्रों और मुनीन्द्रों (गणधर देवादिकों) जैसे [स्तुत्यैः] स्वयं स्तुत्यों के द्वारा [प्रणिहितैः] एकाग्रमन से [स्तुत्यः] स्तुत्य हैं । [इति] इसी से [मया] मेरे (मुझ परीक्षाप्रधनी के) द्वारा [शक्त्या] शक्ति के अनुरूप [स्तुतः] स्तुति किये गये हैं । अतः [पथि एव] अपने ही मार्ग में, [भवतः अप्रतिनिधौ] जो प्रतिनिधि रहित है, [मे] मेरी [भक्ति] भक्ति को [विधेया] सविशेषरूप से चरितार्थ करो ।